कोलकाता, '47: साम्राज्य का अंत

आशिस नंदी

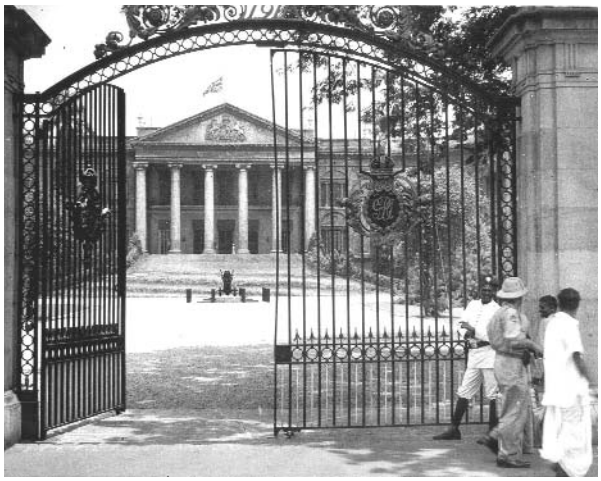

दक्षिण एशिया में 'आज़ादी' 1947 की एकमात्र और एकाश्म घटना बनकर नहीं आई भले यहाँ के ज़्यादातर लोग उसे ऐसे ही याद करना चाहते हों। ब्रिटिश भारत के विघटन की प्रक्रिया का प्रारम्भ कलकत्ता के दंगों के साथ एवं अंत पंजाब के भयंकर जनसंहार के साथ हुआ।

सन् 1946 में मैं नौ वर्ष का था और कलकत्ता शहर में भी नया ही था। इस छोटी-सी उम्र में भी मुझ पर यह ज़ाहिर था कि मेरे आसपास के लोग पर्याप्त सदमा और भयानक पीड़ा झेल चुके हैं। पहले तो विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में जापानियों द्वारा शहर पर बमबारी का आतंक था जिसके चलते मुझे, मेरी माँ, और छोटे भाई को पड़ोसी राज्य बिहार के एक अपेक्षाकृत शांत शहर में भेज दिया गया था। पिता काम की वजह से कलकत्ते में ही रुक गए थे। बमबारी तो वैसी कुछ हुई नहीं लेकिन उसने चतुर्दिक ज़बरदस्त आपाधापी मचा दी, लोग आनन-फ़ानन कलकत्ते से पलायन करने लगे।

जब हम शहर वापस लौटे तो युद्ध समाप्त हो चुका था और आज़ादी की आहटें सुनाई देने लगी थीं। बस 1946 में प्लेग के छिटपुट प्रकोप के अलावा कलकत्ते में स्थिति सामान्य हो चली थी।

एक अन्य महत्वपूर्ण घटना 1942 का भयंकर अकाल थी, जिसमें अंग्रेज़ों की युद्धकालीन नीतियों का योगदान कम न था। इसकी यादें अभी भी लोगों के दिलोदिमाग़ में ताज़ा थीं और दाग़ अभी तक कलकत्ते के जिस्म पर थे। लोग खुलेआम भूखे मरते तो नहीं दिखते थे लेकिन भीख माँगते और — 'चाट रहे हैं जूठी पत्तल कहीं सड़क पर खड़े हुए और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए' — वाले अंदाज़ में कूड़ेदान के

इर्दगिर्द कुत्तों से लड़ते हुए आम तौर पर दिख जाते थे। कलकत्तावासियों के ज़ेहन में अभी भी वो तस्वीरें ताज़ा थीं कि लोग हज़ारों-हज़ार की तादाद में अनाज की भरी-पूरी दुकानों के आगे बिना किसी शोर-शराबे, विरोध या हिंसा के धीरे-धीरे भूख से मर रहे थे। भुखमरी के ज़्यादातर शिकार किसान थे, ख़ासकर मुसलमान किसान। उन्होंने मरने से पहले किसी रेस्त्राँ, मिठाई या पंसारी की दुकान पर धावा नहीं बोला। किसे पता था कि धार्मिक राष्ट्रवाद के नाम पर एक दिन वे ख़ूँख़ार शेरों की तरह लड़ेंगे। इस धार्मिक जनसंहार — करेले पर नीम — के लिए हम क़तई तैयार नहीं थे।

मेरे पिताजी वायएमसीए कलकत्ता में सचिव थे। हम लोगों का आवास वायएमसीए के परिसर में ही था जिसमें कई विशाल लॉन थे। आवास के ठीक सामने उत्तर प्रदेश और बिहार से आए ग़रीब, ग़ैर-बंगाली मुसलमानों की बस्ती थी। यह आबादी उस बड़े प्रवासी मज़दूरों के श्रम का हिस्सा थी जिसके बलबूते शहर का कारोबार ज़िन्दा था। तब उन्हें लोग 'देसी मुसलमान' कहा करते थे। अपने मकान की तीसरी मंज़िल की खिड़कियों से हम बस्ती की गृहणियों को खाना बनाते या बच्चों को खेलते देख सकते थे। बस्ती के बाद निम्न मध्यवर्गीय एवं मध्य-मध्यम वर्गीय हिन्दू बंगालियों के क्रमशः दो मोहल्लों के बाद 'देसी' मुसलमानों की एक और बस्ती थी — राजा बाज़ार। लेकिन पड़ोस की गुमनाम और पिटी हुई बस्ती के मुक़ाबले दूर की बस्ती अपराधियों के अड्डे के रूप में बदनाम थी। हम अपनी बस्ती के कई बाशिंदों के चेहरे पहचानते थे। वायएमसीए का कुछ कल्याणकारी काम उन्हीं के लिए था और इसके चलते उनमें एक मित्रता के साथ-साथ जी-हुज़ूरी का भाव था।

जैसे-जैसे सत्ता-परिवर्तन संबंधी बातचीत और सौदेबाज़ी गरम होने लगी और नतीजतन माहौल साम्प्रदायिक होने लगा, तो हमारे देखते-देखते बस्ती के कुछ बाशिंदे मुस्लिम लीग के सक्रिय समर्थक बन गए। वे पार्टी का हरा झंडा फहराते और कभी-कभार ढोल-तासे और गर्मजोशी के साथ छोटे-मोटे जुलूस भी निकालते। इन उत्साहियों में से अनेक अधेड़ थे और भले ही वे निहायत उग्र और भड़काऊ नारे लगा रहे हों, पर अपने चीथड़ों में निहायत ग़रीब और मासूम मालूम होते थे। उनके इस नए राजनीतिक अवतार से हमारे दूरस्थ दोस्ताने में कोई ख़लल नहीं पैदा हुई। हम बच्चों को उनसे तनिक भी डर नहीं लगता और जब हम उन्हें चिढ़ाते तो वे मुस्करा दिया करते थे। वे जोशोख़रोश से अपने नारे लगाते और हम बच्चे अपनी मिमियाती आवाज़ में जवाब देतेः 'कान में बीड़ी मुँह में पान, लड़के लेंगे पाकिस्तान।'

यूँ भी उनके धधकते नारों और पान-सुपारी चबाते उनके मस्तमौला अंदाज़ में कोई संगति तो थी नहीं।

सोलह अगस्त को हमारे यहाँ काम करने वाली ने बताया कि जब वह बस्ती से हो कर हमारे घर आ रही थी उसने वहाँ के कुछ लट्ठधारियों को इकट्ठा हो कर चाकू तेज़ करते देखा था। चूँकि ऐसा आमतौर पर मोहर्रम के दौरान होता ही था, इसलिए उसे लगा कि वे लोग किसी धार्मिक जुलूस की तैयारी में जुटे थे। उसको क्या पता था कि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग के समर्थन में उस दिन को 'सीधी कार्रवाई' दिवस घोषित कर दिया था। इस घोषणा को किसी ने संजीदगी से नहीं लिया था कि अचानक दोपहर के ठीक पहले हमारी नज़रों के आगे कलकत्ता अप्रत्याशित रूप से दहक उठा। बस्ती के आगे जमा हुई भीड़ ने हिन्दुओं को पीटना शुरू कर दिया था। हम दूर खड़े घरों को लुटते-भुनते देख रहे थे। दक्षिण एशिया में झुग्गी-झोपड़ियों की राजनीति और उस राजनीति के एक अहम किरदार — दंगा-फ़साद से मेरा पहला साबक़ा पड़ा।

वायएमसीए की ऊँची दीवार की दायीं तरफ़ मध्यवर्गीय हिन्दू मोहल्ले थे। वायएमसीए के हिन्दू-मुसलमान कर्मचारी — माली, दरबान और रसोइयों ने फ़ौरन सीढ़ियाँ लगाकर भयभीत लोगों को अंदर खींच लिया। पलक झपकते लॉन पर तक़रीबन 200 परिवार जमा हो गए। भवन का मुख्य द्वार बंद कर दिया गया। इससे पड़ोस में हिंसा की संभावना पर तो अंकुश लग गया, लेकिन गलियों पर तो भीड़ ही क़ाबिज़ रही। इस भीड़ में मुझे कई चिरपरिचित चेहरे अचानक वीर-रसोन्मत्त दिखाई पड़े। उन्हें क्षुद्र लालच को लगे हाथ वो वैचारिक जामा पहनाने का मौक़ा मिल गया था, जिसका दायरा कहीं व्यापकतर था। आते-जाते हिन्दू मुसाफ़िरों को पीट देते, उनके पैसे, घड़ी छीन लेते और कभी-कभी तो चाकू भी घोंप देते। रेडियो ने हालात और बुरे कर दिए। सरकारी निगहबानी में उसने ख़बरों को सेंसर किया। हालाँकि वह भी डरावना था लेकिन लोग शायद ही अपने कानों पर यक़ीन कर पा रहे थे। उन्होंने और भी अधिक ख़ौफ़नाक़ अफ़वाहों पर भरोसा किया। ख़ासकर इसलिए क्योंकि रेडियो पर दी

गई जानकारी उनकी 'आँखिन देखी' से मेल नहीं खा रही थी। इन अफ़वाहों ने मिले-जुले मोहल्लों के बाशिन्दों को और भयभीत कर दिया। अल्पसंख्यक वहाँ से भागने लगे। इस तरह शहर फ़िरक़ावाराना दरबों में तब्दील होता चला गया। हमने पुलिस को भी खुलेआम पक्षपात करते देखा।

दो दिन के अन्दर हिन्दुओं ने स्वयं को संगठित कर जवाबी आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। शुरू में हिन्दू बहुसंख्यक थे लेकिन केवल सैद्धान्तिक स्तर पर। लेकिन दंगों की वजह से हिन्दू स्वयं को एक वृहद/व्यापक व संगठित निर्मिति का अंग मानने लगे एवं पहली बार हम लोगों ने कलकत्ता शहर में उभरते हुए 'हिन्दू राष्ट्र' का मंज़र देखा। क़साई, लोहार एवं मछुआरों को छोड़कर अन्य निम्नजातीय बाहुबली और नेपाली गोरखा, जिन्हें पहले हिन्दू समाज का अंग नहीं माना जाता था, अब स्थापित-मध्यवर्गीय व उच्च जाति के बंगाली हिन्दुओं के सूरमा रक्षक बन गए। जो हिन्दू राष्ट्रवादियों द्वारा पिछले सौ सालों में नहीं हो सका था उसे मुस्लिम लीग द्वारा घोषित 'सीधी कार्रवाई' के एक दिन ने कर दिखाया। सालों बाद जब मैंने पढ़ा कि अंतर्राष्ट्रीय युद्धों ने कई राष्ट्रों का निर्माण किया था तो मुझे ये महज़ घिसी-पिटी बात न लगी। मुझे बिल्कुल पता था कि इसका सही मतलब क्या था।

पड़ोस का एक फ़ुटबॉल क्लब — बादुरबग़ान स्पोर्टिंग क्लब, कभी-कभी हमारे साथ मैत्रीपूर्ण मैच खेलने हेतु वायएमसीए आया करता था। कभी-कभार क्रिकेट और बास्केटबॉल के भी मैच हुआ करते थे। हम लोगों की तुलना में उनकी टीम बेहतरीन थी एवं बास्केटबॉल को छोड़कर अन्य सभी खेलों में हमें हराया करती थी। बास्केटबॉल में हम लोगों के अच्छे प्रदर्शन का कारण उनके द्वारा बास्केटबॉल अधिक नहीं खेला जाना था। क्लब टीम का व्यवहार भी काफ़ी मित्रवत था एवं हमलोगों को उनका साथ बहुत पसंद था। सदस्यों में अधिकतम संख्या किशोरों की थी और ये सभी उस हिन्दू मोहल्ले से आते थे, जो हमारे घर के ठीक सामने बसे दो सौ बंगाली मुसलमानों की झुग्गी बस्तियों के बीच बसा था। साम्प्रदायिक दंगों ने क्लब को एक नये संगठन में तब्दील कर दिया। अब वे अपने समुदाय के रक्षक बन गये और उनमें से कई 'गर्व से कहो' क़ातिल बन बैठे। हिन्दू समुदाय ने भी इन्हें अपने प्राणों की आहुति देने वाले नायकों के रूप में देखना शुरू कर दिया।

देखते-ही-देखते इस तर्ज़ के रणबाँकुरे पूरे कलकत्ते में उग आए। मुसलमानों से बदला लेने का काम इन्होंने पूरी हैवानियत से अंजाम दिया। हमने एक बूढ़े मुसलमान ताँगेवाले को शब्दशः संगसार होकर मरते देखा। बेहद हृदयविदारक दृश्य था। जब ऐसी नृशंसताएँ नहीं होतीं तो भी दंगों को भूल पाने की मोहलत नहीं दी जा रही थी। मुझे याद है कि कैसे एक बूढ़ी औरत दंगों में मारे गए बेटे को याद कर रोज़ाना हमारे घर के सामने फ़ुटपाथ पर बैठकर रोती थी। वायएमसीए के भवन में, जहाँ हमारा घर था, एक और मंज़िल पर बहुत-से मुसलमान परिवारों को पनाह दे रखी थी। अजीब बात है कि मकान के अंदर रहने वालों के बीच कोई साम्प्रदायिक द्वेष नहीं था। न तो दंगा पीड़ितों में, न ही उनकी सेवा करने वालों में।

उन दिनों मेरे पिताजी ने ग़ज़ब का साहस दिखाया। कई बार उन्हें मारने की धमकी दी गई। जब उन्होंने पुलिस से आक्रामक तेवर में बात की एवं उन्हें दंगाइयों से सख़्ती के साथ निपटने को कहा, तो उन पर दो बार गोलियाँ भी चलीं। ऐसा लगता है कि भाँति-भाँति के उग्रवादियों से मुठभेड़ होने के तजुर्बे के बावजूद भारतीय पुलिस फ़ौलादी नहीं बन पाई थी और उससे भूल-चूक की अपेक्षा तो की ही जा सकती थी।

वैसे हमारे परिवार को गहरा सदमा पहुँचा था। ख़ूँरेज़ी और क्रूरता ने सबको प्रभावित किया था। ख़ासकर मेरे पिता एवं छोटे भाई मनीष को। उन्होंने कई दिनों तक खाना नहीं खाया और खिन्नचित्त पड़े रहे। मेरी माँ ने अलबत्ता दृढ़ता का परिचय दिया — रोईं तो बहुत लेकिन उन्होंने जीवन की निरंतरता को भंग नहीं होने दिया। दूसरी तरफ़ मेरे पिताजी कुछ सप्ताह बाद गंभीर रूप से बीमार पड़ गये। डॉक्टरों के अनुसार इसका कारण उनका अवसाद था।

ऐसा नहीं कि केवल हमारे परिवार पर ही इस तरह का असर हुआ हो। हम ईसाई थे और शायद थोड़ी तटस्थता और नैतिक निष्पक्षता बरत सकते थे। लेकिन हमारे नामों पर हमारे धर्म की छाप नहीं थी। जब हम अपने छोटे भाई के साथ पड़ोस के स्कूल में पैदल जाते थे तो माँ-बाप बड़े चिंतित रहा करते। आगे चलकर जब मैंने दोस्तों से दंगों के वाक़ये सुने तो उनमें मोटे तौर पर एक समानता दिखी। इतना तय है कि ज़्यादातर वाक़ये पूर्वग्रह-प्रेरित लगे। अधिकांश दंगे पक्षपातपूर्ण लगे। दंगाइयों ने अपने नवपरिभाषित समुदाय की तरफ़ से संगत व

असंगत रूप से इस बात का दावा किया कि वे ही इस दंगे के असली शिकार हैं और धर्म की लड़ाई में उन्हीं की जीत हुई है।

मोहनदास करमचंद गांधी न होते तो कलकत्ते में दंगे का ज्वार आसानी से थमने वाला नहीं था। उन्होंने शहर के एक अत्यधिक दंगाग्रस्त इलाक़े में आमरण अनशन शुरू किया। किसी ने नहीं सोचा था कि उनका यह उपवास प्रभावी होगा। हमारे विद्यालय के कुछ बुज़ुर्गों ने गांधीजी के अनशन की खुलेआम खिल्ली उड़ाई। लेकिन अंततः अनशन कारगर रहा — सारे शहर पर जैसे बिजली का सा असर हुआ, पूरा शहर अचंभित रह गया। कुछ विरोधियों द्वारा यह लगातार कहा जाता रहा कि अगर वे उपवास नहीं करते तो मुसलमानों को एक अच्छा सबक़ सिखाया गया होता। लेकिन घटनाक्रम में अप्रत्याशित परिवर्तन ने उनकी भी ज़बान पर ताले जड़ दिये थे।

इस समय एक व्यक्ति जो गांधीजी के काफ़ी क़रीब आये वे थे मुस्लिम लीग के नेता और बंगाल के मुख्यमंत्री एच.एस. सुहरावर्दी।

इस शख़्स ने एक तरह से दंगों की आग में घी डाला था। इसलिए नहीं कि उन्हें ख़ूँरेज़ी पसंद थी बल्कि इसलिए कि उनका जनाधार प्रवासी ग़ैर-बंगाली मज़दूर, निम्न-मध्यवर्ग और लम्पट सर्वहारा था। यह मज़बूत जनाधार हमेशा से संवेदनशील और बेलगाम-सा था, जैसे इसे किसी हिंसक उपक्रम का इंतज़ार रहता हो। चूँकि सुहरावर्दी एक ऐसे मशहूर उर्दू भाषी नवाबी ख़ानदान से थे जिन्हें बहुसंख्यक बंगाली मुस्लिम कृषक समुदाय की समझ नहीं थी इसलिए उनके पास जनाधार के लिए इन समूहों पर और अपनी वाक्पटुता व लोकलुभावन छवि पर आश्रित होने के अलावा कोई चारा नहीं था। बंगाली मुसलमानों के नेता के रूप में उनकी विश्वसनीयता कभी पूर्णतः असंदिग्ध नहीं रही। बंगाली शायद इसे सुनना पसंद नहीं करेंगे कि सुहरावर्दी ने लामबन्दी संबंधी कुछ रणनीतियाँ बंगाल के युद्धप्रिय (युयुत्सु) राष्ट्रवादी नेता और मिथकीय नायक सुभाषचन्द्र बोस से ही सीखी। मेरी आशंका है कि वे एक नियंत्रित फ़साद चाहते थे ताकि अपनी राजनीतिक शक्ति का परिचय अंग्रेज़ी अधिकारियों, भारतीय राष्ट्रीय कॉङ्ग्रेस एवं मुस्लिम लीग के नेतृत्व को दे सकें। लेकिन स्थिति बेलगाम होकर व्यापक जनसंहार में तब्दील हो गई। पत्रकार निखिल चक्रवर्ती ने कभी मुझे बताया था कि कैसे सुहरावर्दी जब गांधी के शांति प्रयासों से जुड़े तो उन्होंने अपनी ख़ास मर्दाना शैली में दंगाइयों का अकेले और निहत्थे मुक़ाबला किया। मुझे याद है कि दो-एक बार वे मेरे पिताजी से मिलने घर आए थे, क्योंकि पिताजी भी अमन अभियान में शामिल थे।

जैसे ही इधर दंगा मद्धम पड़ा, पूर्वी बंगाल से साम्प्रदायिक दंगों की ख़बरें आने लगीं। एक बार पुनः अफ़वाहों और किंवदंतियों ने माहौल को ख़राब कर दिया। कलकत्ता जनसंहार के बाद अगर इंसानी विवेक जैसा कुछ शेष रह गया था तो वह नोआखली और सिलहट से आने वाली कहानियों की बाढ़ में बह कर पूर्वी भारत के अन्य इलाक़ों में फैल गया। कलकत्ता तो थक कर सुन्न था लेकिन बिहार के कुछ हिस्सों में गंभीर प्रतिक्रिया हुई।

ठहर कर सोचें तो कलकत्ते के दंगों ने इस बात की पुनः पुष्टि की कि शहरी झुग्गी-झोपड़ी वाले अकसर फ़िरक़ापरस्त लफ़्फ़ाज़ी व उकसावे में आ जाते हैं, हालाँकि ये कहना मुश्किल है कि बतौर वर्ग फ़िरक़ापरस्ती में उनकी क़ुदरती आसक्ति है। झुग्गी बस्तियाँ प्रायः ऐसे लोगों का गढ़ होती हैं जिनके टूटे-फूटे सामाजिक संबंध सामुदायिक समरसता की अतीत-कल्पना में अपनी सार्थकता ढूँढते हैं। जब शहर आ कर उनकी नई निष्ठाएँ बनती हैं तो इन निष्ठाओं में नैराश्य के साथ-साथ एक ख़ास क़िस्म की बेताबी होती है। इन नई निष्ठाओं का इस्तेमाल उस समुदाय के वे समृद्धतर लोग कर जाते हैं, जो खुद भयभीत तो हैं, पर अपनी जान जोखिम में नहीं डालना चाहते। वे इस लड़ाई में आख़िरी झुग्गीवासी की जान की क़ुर्बानी करने से नहीं चूकते।

जो भी हो, कलकत्ते के महादंगों की तुलना पंजाब के दंगों से नहीं की जा सकती। आख़िर पुरबिए पंजाबियों जैसे लड़ाका तो थे नहीं। यहाँ कुछ ही दिनों में लड़ाई ने ज़ेहनी और घिनौना रूप अख़्तियार कर लिया, जिसमें झुग्गीवालों के कंधे से कंधा मिलाकर जरायमपेशा लोगों की भूमिका उत्तरोत्तर बढ़ती गई। दीगर समुदाय के सदस्य को औचक चाकू घोंप देना इस जंग का पसंदीदा तरीक़ा हो गया था। प्रारम्भिक कुछ उन्माद भरे दिनों के बाद कलकत्ते में धर्म की लड़ाई ने एक ऐसे साम्प्रदायिक दंगे का रूप अख़्तियार कर लिया जो आजकल दक्षिण एशिया में एक सामान्य सी घटना है। मुझे आज भी वह घटना याद है जब एक विधवा स्त्री अपने किशोर बच्चों के दंगे में मारे जाने के बाद फूट-फूटकर रो रही थी एवं फ़ौजियों से कह रही थी कि 'मुझे गोली मार दो'। तथापि

यह कहा जा सकता है कि अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिक व विविधता भरे कलकत्ता शहर में इस बात की गुंजाइश काफ़ी कम थी कि पंजाब की तरह पड़ोसी एक-दूसरे के शत्रु बन जायें। हालाँकि हाल के अध्ययन में हम पा रहे हैं कि पंजाब में भी पड़ोसियों के आपसी संबंध और सामुदायिक जीवन पूर्णतः विखंडित नहीं हुए थे, जैसा कि पहले सोचा जाता था।

पंजाब में साम्प्रदायिक दंगों की आग दूरदराज़ के ग्रामीण इलाक़ों में पहुँच गई थी जबकि इस प्रकार की घटना बंगाल में नोआखली आदि कुछेक स्थानों में घटित हुई। बंगाल में हिंसा का ताना-बाना बुना गया था। यह दिखाने के लिए अब पर्याप्त साक्ष्य हैं कि जहाँ धार्मिक राष्ट्रवाद के इर्द-गिर्द पंजाब और बंगाल में हुई हिंसा का ताना-बाना बुना गया, वहीं बहुत सारी ऐसी घटनाएँ भी हुईं जिनमें लोगों ने अपनी मनोरुग्णता को अभिव्यक्ति दी। कई मामलों में पुराने हिसाब चुकता किए गए और लालची रिश्तेदारों ने अपने ही परिवार वालों को सताया।

पंजाब में एक बार जब हिंसा की लपटें उठीं तो उसके सामने अन्य सारी घटनाएँ गौण हो गयीं। बंगाल एवं बिहार में भी हिंसा काफ़ी नृशंस थी लेकिन ये सारी घटनाएँ अंशतः मीडिया एवं मध्यवर्गीय दृष्टिपटल व दायरे से बाहर घटीं। पंजाब में हिंसा की विकरालता ने स्थिति को संशयपूर्ण बना दिया था। पंजाब की उथल-पुथल, चालीस-चालीस मील लंबे कारवाँ, हज़ारों-हज़ार अपहृत महिलाएँ, आत्मविनाश की यह महालीला, बड़े पैमाने पर समुदायों का सफ़ाया — ये सब दुनिया की नज़रों से छिप नहीं सकता था। नारीवादी प्रकाशक उर्वशी बुटालिया — जो खुद दंगा-प्रभावित ख़ानदान से आती हैं — ने हाल ही में इन आत्मघाती प्रसंगों का मार्मिक विवरण दिया है। ये आत्मघात की ऐसी कथाएँ हैं, जिन पर किसी फ़ौलादी समुराई को भी गर्व होता।

गांधी का भारत आज़ादी की लड़ाई के दौरान पिछले दो दशकों से सुर्ख़ियों में छाया हुआ था और जब आज़ादी ख़ून से लथपथ मिली तो लगा कि विंस्टन चर्चिल जैसों की साम्राज्यवादी भविष्यवाणी सच हो रही है कि अंग्रेज़ों के बग़ैर भारत हिंसा और अराजकता में डूब जाएगा।

उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर पंजाब और बंगाल में कम से कम 5.5 लाख लोग तो मरे ही होंगे और तक़रीबन एक करोड़ अपनी जड़ों से उखड़ गए। लेकिन इन पीड़ितों की व्यथा को इनके अपने समुदायों के संवेदनशील लेखकों की लेखनी ने भी स्वर नहीं दिया। पूर्वी बंगाल के भीषण रक्तपात के चित्रण में भी अकसर सौहार्दपूर्ण आदर्श अतीत की स्मृति या उसकी चाहत ही हावी है। ऋत्विक घटक ने एक-दो फ़िल्मों में त्रासदी को पहचाना तो सही लेकिन पेशकश का जामा युद्ध-पूर्व मार्क्सवाद का दयनीय संस्करण ही रहा। इसके अलावा त्रासदी की गहराई से रूबरू होने की और कोई कोशिश नहीं हुई। पाकिस्तान में सरकारी तौर पर विभाजन को विजय के रूप में देखा जाता है और विस्थापितों को 'मोहाजिर' पुकारा जाता है। लेकिन वहाँ भी कोई कुर्बानी की बात नहीं करता — इसे महज़ ब्रिटिश भारत के ख़ात्मे के बाद लूट के बँटवारे का लाज़िमी नतीजा माना जाता है। एक ही व्यक्ति जो हिंसा की इस विशालकाय दीवार के आर-पार ख़ामोशी को तोड़कर हिंसा की संस्कृति को एक हद तक समझ-समझा सका, वह था स'आदत हसन मंटो। तल्ख़ी और आत्मदंश के उसके अफ़सानों और *सियाह हाशिए* में समुदायों और पड़ोस-धर्म के लगभग पूरी तरह विशृंखलित हो जाने की दास्तान है। जहाँ हिंसा की मानसिक रुग्णता और आत्ममुग्धता, आत्म व परपीड़क प्रवृत्तियों का खुलासा मिलता है जिसकी क़ीमत न सिर्फ़ पीड़ितों ने चुकाई बल्कि हिंसकों ने भी।

जनसंहार के बाद लाखों सामान्य जन इतिहास के दो पाटों में फँस गये और उन्हें नये, कई रूपों में अजनबी देशों में धकेल दिया गया, जहाँ इन्होंने एक नयी पहचान ग्रहण की। 1940 के दशक ने दक्षिण एशिया के सार्वजनिक जीवन में एक नए चरित्र को जन्म दिया। शरणार्थी नामक यह जीव विस्थापित, अंशतः उन्मूलित और विद्वेष की भावना से पीड़ित ऐसे समुदाय का हिस्सा था जिसने सामाजिक संबंधों की क्षणभंगुरता, मित्रों के विश्वासघात और अपने एवं दूसरे मनुष्यों की पाशविकता की पराकाष्ठा देखी थी। दक्षिण एशिया की राजनीति पहले जैसी न रही।

दीगर शरणार्थियों की तरह दक्षिण एशियाई शरणार्थियों ने भी बहुत कुछ अपने मन में संजो कर रखा और जलावतनी ज़िन्दगी के अहम तजुर्बे और उस शैली को अगली पीढ़ी को सौंपा। इस व्यक्तित्व शैली ने ऐसी

अद्भुत रचनात्मक ऊर्जा पैदा की जिसकी कुव्वत सिर्फ़ बेघरों में ही होती है। लेकिन जलावतन समाज के सार्वजनिक जीवन में क्रूर लुटेरों की उद्यमशीलता के साथ-साथ हताशा की राजनीति भी आई।

बँटवारे के बाद की बेघरबारी और जिजीविषा का कोई सुनियोजित मनौवैज्ञानिक अध्ययन नहीं मिलता। इस प्रकार के अध्ययन का एक उदाहरण अमेरिकी समाजशास्त्री स्टीफ़ेंस केलर का पीएच.डी शोधपत्र है, जिसका प्रकाशन *अपरूटिंग ऐण्ड सोशल चेंज* नामक पुस्तक में मिलता है। यह शोधपत्र बताता है कि वे लोग, जो विभाजनकालीन दंगों मे विस्थापित हो गये थे, वे न केवल अपने व्यावसायिक एवं सार्वजनिक जीवन में बल्कि अपने परिवार के अन्दर भी काफ़ी उग्र हो गये हैं। इनका लोगों पर से भरोसा उठ गया है, इन्हें लगता है कि इनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता और क़ानून के दायरे से बाहर जाने में भी इन्हें ज़्यादा हिचक नहीं होती।

शायद यही पंजाबी शरणार्थियों की जगज़ाहिर सफलता का राज़ है। बंगालियों व बिहारियों की तुलना में पंजाबियों ने अपनी तार-तार हुई ज़िन्दगी के टुकड़ों को भारत और पाकिस्तान में बेहतर ढंग से पुनर्व्यवस्थित किया है। किसी उद्यमशील व्यक्ति की तमाम मनोवैज्ञानिक पूर्वशर्तों को वे पूरा करते नज़र आते हैं। डेविड सी मैक्लीलैण्ड ने साठ के दशक के व्यक्तित्व की इस क़िस्म को ऐसे ही परिभाषित किया था। बंगालियों ने त्रासदी का वीभत्सतम रूप नहीं देखा था। नोआखली से भी उनमें से ज़्यादा का साक्षात सामना नहीं हुआ था। पूर्वी भारत में आबादी का आरपार होना किसी दिखते हुए ज़ख्म की तरह था न कि यकलख़्त जातीय सफ़ाए की तरह, जिसने हरेक परिवार को झकझोर दिया।

विभाजन पूर्व की आधी से अधिक जनसंख्या अभी भी बांग्लादेश में ही थी जबकि पश्चिम बंगाल में मुसलमानों की जनसंख्या अधिक हो गई है। दूसरी तरफ़ हिन्दुओं व सिक्खों की जनसंख्या का अनुपात पाकिस्तानी पंजाब में और मुसलमानों की जनसंख्या भारतीय पंजाब में नगण्य है।

गुलामी से निकलने के बाद दक्षिण एशिया के पास खुद पर नाज़ करने के लिए अनेक उपलब्धियाँ हैं। उनमें से विचित्र किन्तु सत्य बात यह भी है कि विभिन्न तरह के धर्मावलम्बी अपेक्षाकृत सौहार्दपूर्ण ज़िंदगी जी रहे हैं। शायद पाकिस्तान इस क़िस्म का श्रेय लेने की स्थिति में नहीं है, क्योंकि सन् 47 के बाद वहाँ अल्पसंख्यक तो बचे ही नहीं। विभाजन में दंगों का रिकॉर्ड क़ायम करने के बाद तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद भारत और बांग्लादेश की स्थिति बुरी नहीं कही जा सकती। हिन्दुस्तान में ज़्यादा आँकड़े उपलब्ध होने के चलते यह निष्कर्ष निकालना आसान है।

भारत में स्वतंत्रता के बाद मारे गये लोगों की संख्या कार दुर्घटना में मरने वाले लोगों की संख्या का 1/7वाँ हिस्सा एवं अमेरिका में शहरी आपराधिक घटनाओं में मरने वालों की कुल संख्या का 1/20वाँ हिस्सा है। ख़याल रहे, अमेरिका की जनसंख्या भारत की जनसंख्या की एक तिहाई है। 1992 ई. में बाबरी मस्जिद का सनसनीख़ेज़ विध्वंस एक ऐसी पार्टी द्वारा किया गया जो हिन्दुओं का प्रतिनिधि होने का दावा करती है। लेकिन इस घटना के 5 महीने बाद हुए चुनाव में यही पार्टी ज़िले की 9 विधानसभा सीटों में से 8 पर हार गई, जबकि इन सभी आठ विधानसभा क्षेत्रों में हिन्दू मतदाता बहुमत में थे। एक ताज़ा अखिल भारतीय सर्वेक्षण से पता चलता है कि (अधिकांश) बहुसंख्यक हिन्दुओं ने इस असभ्य कृत्य का विरोध किया था।

लेकिन ऐसा लगता है कि दक्षिण एशिया के राष्ट्र अभी भी अपने जन्म के समय हुए जनसंहारों का सामना करने के लिए तैयार नहीं हैं। उन यादों को भले ही इतिहास के पन्नों से देशनिकाला दे दिया जाता रहा हो, लेकिन ये नियमित तौर पर दुःस्वप्न की तरह लौट आती हैं।

भूत को बतौर इतिहास रचा जा सकता है और इसे निस्पंद भी किया जा सकता है। लेकिन इसकी कोई गारंटी नहीं है कि वह फ्रॉयड के अवचेतन की तरह नहीं लौटेगा। इससे मुक्ति तभी संभव होगी जब दक्षिण एशिया की नई पीढ़ियाँ उस अतीत से मुखामुखम न हो लें। बँटवारे के दंगों को महज़ ऐसे नहीं पढ़ना चाहिए कि किसी ने किसी और के साथ क्या किया बल्कि उन्हें इस रोशनी में देखने की ज़रूरत है कि दक्षिण एशिया ने खुद के साथ क्या किया। इस इलाक़े को आज़ादी से ऊपर विभाजन की हिंसा को रखना सीखना होगा क्योंकि यादों के इस आग के दरिया से गुज़र कर ही हम गुलामी से मुक्ति का जश्न मनाने का हक़ हासिल कर पाएँगे।